

“हम यह तो नहीं कह सकते कि सर्वार्थसिद्धिका प्रस्तुत संस्करण सब दृष्टियोंसे अन्तिम है, फिर भी इसे सम्पादित करते समय इस बातका ध्यान अवश्य रखा गया है कि जहाँ तक बने इसे अधिक परिशुद्ध और मूलग्राही बनाया जाय।”

इस सम्बन्धमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि पण्डितजीने यह कार्य अत्यन्त सफलताके साथ निष्पन्न किया है। उनकी तरफसे कोई कमी नहीं दिखती है।

इस संस्करणकी यह भी विशेषता है कि इसमें प्रत्येक शब्द, पद, वाक्यका पूर्ण रूपसे सरल हिन्दीमें अनुवाद किया गया है। प्रत्येक पृष्ठपर नीचेमें पाठ-भेदका निर्देश किया गया है। अनुवादकी विशेषता यह है कि यदि मूलका वाचन न कर केवल अनुवाद ही पढ़ा जाये, तो ऐसा नहीं लगता कि हम किसीका अनुवाद पढ़ रहे हैं।

ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट १ में प्रत्येक अध्यायमें समाविष्ट सूत्र तथा उनके मुद्रित पृष्ठकी संख्याका निर्देश किया गया है। इससे सूत्रका पता लगानेमें, ढूँढ़नेमें बहुत सुविधा जान पड़ती है। “उद्धृत वाक्य-सूची” के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धिमें हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे जो गाथा, श्लोक या वाक्य उद्धृत मिलते हैं, वे जिन ग्रन्थोंके हैं उनकी सूची दी गई है। अन्तमें “शब्दानुक्रमणिका” संलग्न है जो प्रत्येक शब्द तथा अंगभूत विषय की जानकारी एवं शोध-कार्यके लिए विषय-सामग्रीका संकलन करनेके लिए विशेष रूपसे उपयोगी है।

इस प्रकार प्रथम आवृत्तिके रूपमें मई, १९५५ में प्रकाशित “सर्वार्थसिद्धि” का यह संस्करण बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सम्प्रति मुद्रण सम्बन्धी परिशुद्धता तथा अनुवाद विषयक विशुद्धताके साथ इसका द्वितीय संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्लीको मुद्रण-प्रक्रियासे निर्गमित हो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। ऐसे सुन्दर प्रकाशनके लिए ज्ञानपीठ भी निःसन्देह गौरवान्वित हुआ है।

अमृतकलशके टीकाकार

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

आचार्य कुन्दकुन्दका “समयसार” अध्यात्म विषयका एकमात्र श्रेष्ठ ग्रन्थ है। यद्यपि और भी अनेक ग्रन्थ बादमें रचे गए हैं, पर उन सब पर “समयसार” की ही छाप है। यह ग्रन्थ उस महापुरुषकी सम्पूर्ण जीवनकी अनुभूतिका निचोड़ है।

भगवान् महावीरके बाद श्रुतकी परम्परा मौखिक रूपमें चलती रही। जब श्रुतका बहुत-सा अंश परम्परागत आचार्योंको विस्मृत हो गया, तब श्री १०८ आचार्य धरसेनने उसे लिपिबद्ध करनेके लिए अपना ज्ञान भूतबलि-पुष्पदन्त दो मुनियोंको दिया, जिन्होंने षट्खण्डागम सूत्रोंकी रचना की। यह लिपि रूपमें आगमकी सर्वप्रथम रचना की। इसका विषय करणानुयोग है; द्रव्यानुयोगका भी वर्णन यथास्थान है जिसके अन्तर्गत अध्यात्मके भी कहीं-कहीं दर्शन होते हैं, पर कुन्दकुन्दाचार्य तो भिन्न प्रकारकी धाराका प्रवाह बहा गए।

कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव विदेह क्षेत्र स्थित वर्तमान प्रथम तीर्थकर सीमंधर स्वामीके समवसरणमें गए थे। उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। सीमंधर तीर्थकरके मुखसे समवसरणमें साक्षात् उपदेश श्रवण करनेवाले इस युगके वे ही आचार्य हुए, शेष जो गुरु परम्परासे आगत आगमके अभ्यासी हुए। कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित ग्रन्थोंमें जो विषय वर्णित हैं, उससे ऐसा लगता है कि जैनधर्मका सर्वस्व सार उसमें है।

“मोक्षमार्ग स्वाश्रयसे हैं पराश्रयसे नहीं। कितना साफ सिद्धान्त है। पर छूटना ही तो मुक्ति है, तब वह परके आश्रयसे कैसे होगी? परकर्तृत्वका सर्वथा निषेध जिनशासनमें है। यह पर-कर्तृत्वका निषेध केवल जीव के लिए ही नहीं, षडद्रव्योंमें से कोई वस्तु परके कारण नहीं परणमती। परिणमन वस्तुका ही स्वभाव है। जो स्वभाव होता है, वह पर की अपेक्षासे नहीं होता, स्वयं स्वका भाव है।”

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारपर पूज्य श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रजीकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका है, जिसकी संस्कृत भाषा बड़ी ही प्राञ्जल है, उत्कृष्ट कोटिकी है। फिर भी सरल और सरस है। इस ग्रन्थकी टीकाने कुन्दकुन्दका हृदय ही खोल दिया है। ऐसा लगता है मानों कुन्दकुन्दके हृदयमें ही अमृतचन्द्रका वास रहा हो।

अमृतचन्द्र आचार्यकी आत्मख्याति संस्कृत टीकामें उनके द्वारा ही रचित अमृतमय घटकी तरह कलश रूप काव्य है, जिनमें उन गाथाओंका या उनकी टीकाका हार्द भर दिया गया है। इन कलशोंके ऊपर हिन्दी भाषामें खण्डान्वय रूपसे प्रत्येक पदका अर्थ खुलासा करते हुए टीका श्री पं० राजमलजीने लिखी है। ये कविराज सुप्रसिद्ध अध्यात्म वेत्ता पं० बनारसीदासजीके पहिले हो गए हैं। कविवर बनारसीदासजीने इसके अध्ययनके पश्चात् स्वयं “नाटक समयसार” की उत्कृष्ट छन्दबद्ध रचनाकी है। पं० राजमलजी राजस्थानके थे। अतः राजस्थानान्तर्गत ढूँढा ढूँढा प्रदेशमें प्रचलित ढूँढारी हिन्दी भाषामें उन्होंने यह टीका लिखी है।

यद्यपि ठेठ (आधुनिक हिन्दी) में भी इसकी टीकाएँ हुई हैं। तथापि ये सब इस टीकाके पश्चात् हुई हैं। फलतः सभी अन्य टीकाकारोंके लिए पण्डित राजमलजीकी टीका प्रकाश स्तंभ रही है। दण्डान्वयी टीकाओंमें कर्ता-कर्म-क्रिया इस क्रमसे रखे जाते हैं कि वाक्य विन्यास ठीक-ठीक हो जाय, पर खण्डान्वयी टीकामें प्रत्येक पदका अर्थ इस क्रमसे नहीं होता। यह क्रियासे प्रारम्भ होती है और प्रश्नपूर्वक पदस्थ विशेषणोंका अर्थ खुलता जाता है।

पण्डित राजमलजीने इस पराधीनताको भी स्वीकार नहीं किया कि सर्वत्र खण्डान्वयके नियमोंका ही पालन किया जाय, किन्तु जहाँ जिस पदका या वाक्यका अधिक स्पष्टीकरण करना अभीष्ट है, वहाँ भावार्थके साथ-साथ टीकाको गति दी है। टीकाके अन्तमें भावार्थ भी प्रायः लिखा गया है और उसमें भावका पूरा स्पष्टीकरण कर दिया है।

यह दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से प्रकाशित हुई है। इस टीकाके सम्पादक समाजके सुप्रसिद्ध निष्णात् विद्वान् आगम ग्रन्थोंके टीकाकार पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी हैं। भाषा टीकाकार पण्डित राजमलजीकी स्वयंकी भाषाको अक्षुण्ण रखते हुए भी पण्डितजीने यत्र तत्र आधुनिक हिन्दीमें भी भाव स्पष्ट किया है, जिससे ढूँढारी भाषाकी दुरूहता भी दूर हो गई है।

पं० राजमलजी १७वीं शतीके विद्वान् थे। इसी १७वीं शतीमें पण्डित बनारसीदासजी, पं० रूपचन्द्रजी, पं० चतुर्भुजजी, भैयाभगवतीदासजी आदि अनेक गण्यमान्य अध्यात्मरसिक विद्वान् हुए।

पण्डित राजमलजीकी अनेक रचनाएँ हैं, उनमें यह रचना प्रमुख है।

पण्डित राजमलजी आध्यात्मिक सत्पुरुष थे। उनके प्रत्येक ग्रन्थमें अध्यात्मके दर्शन होते हैं। इस “समयसार कलश” टीकामें भी अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ उनकी श्रद्धा और विद्वत्ताका चमत्कार देखनेको मिलता है। कुछ नमूने पाठकोंके सामने प्रस्तुत हैं।

सम्यग्दर्शन क्या है? इस प्रश्नका उत्तर कलश ६ में दिया है उसका विवरण पण्डितजीके शब्दों में पढ़िए—

“संसारमें जीव द्रव्य नौ तत्त्व रूप परिणमा है, वह तो विभाव परणति है, इसलिए नवतत्त्व रूप वस्तु का अनुभव भी मिथ्यात्व है। जिस कारण यही जीव द्रव्य सकल कर्मोपाधिरहित जैसा है वैसा ही प्रत्यक्षपने उसका अनुभव निश्चयसे यही सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ इस प्रकार है—सम्यग्दर्शन जीवका गुण है। वह गुण संसार अवस्थामें विभावरूप परिणमा है। वही गुण जब स्वभावरूप परिणमे तब मोक्षमार्ग है।”

इस विवरणसे पण्डितजीने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान अवस्था जीवकी नवतत्त्वरूप है, यह सत्य है; तथापि यह जीवका स्वाभाविक परिणमन नहीं है। अतः नवतत्त्वरूप जीवकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है। तब नवतत्त्वरूप जीवका श्रद्धान करना (सम्यग्दर्शन नहीं) मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनका विषयभूत आत्मा इन सब कर्मजनित उपाधियोंसे भिन्न शुद्धात्मदर्शन है।

कर्मजनित उपाधि युक्तता असत्य नहीं है वह तो है, पर वह जीवका शुद्ध स्वभाव नहीं है अतः इस दृष्टिसे मिथ्या है नयसापेक्ष कथनकी दृष्टिसे मिथ्या है, तथापि आगे आठवें कलशकी टीकामें पण्डितजी स्पष्ट करते हैं कि—

“जीववस्तु अनादि कालसे धातु पाषाणके संयोगके समान कर्म पर्यायसे मिली चली आ रही है सो मिली हुई होकर वह रागादि विभाव परिणामोंके साथ व्याप्य-व्यापक रूपसे स्वयं परिणमन कर रही है। वह परिणमन देखा जाय, जीवका स्वरूप न देखा जाय तो जीव वस्तु नौ तत्त्व रूप है, ऐसा दृष्टिमें आता है। ऐसा भी है, सर्वथा झूठ नहीं है क्योंकि विभावरूप रागादि शक्ति जीवमें ही है।”

इस कथनसे व्यवहार सापेक्ष अर्थात् वर्तमान पर्याय दृष्टिसे जीवको देखा जाय तो नवतत्त्व रूप कहना सत्य है, पर उसीकी जीव द्रव्यके निरुपाधि स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह असत्य है इस तरह नयविवक्षाओं से बहुत स्पष्ट विवेचन किया है, विवादको कोई स्थान नहीं रह जाता।

ऐसे शुभानुभवनको पण्डितजीने “प्रत्यक्षमने अनुभव” लिखा है और उसे मोक्षमार्ग कहा है यहाँ उन्होंने स्वयं प्रश्न उठाया है कि—

“यहाँ कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्य इन तीनोंके मिलनेसे होता है”— इसका उत्तर दिया है कि शुद्धजीव स्वरूपका अनुभव करनेपर तीनों ही हैं। “.....जीवका लक्षण चेतना है। वह चेतना तीन प्रकार की है—एक ज्ञानचेतना—एक कर्मचेतना, एक कर्म-फल चेतना। उनमेंसे ज्ञानचेतना शुद्धचेतना है, शेष अशुद्ध चेतना है। उनमें अशुद्ध चेतना रूप वस्तुका स्वाद तो सर्वजीवोंको अनादिसे (ये सारी मिथ्यादृष्टि जीवोंको) प्रकट ही है। उस रूप अनुभव सम्यक्त्व नहीं है, शुद्ध चेतना मात्र वस्तुका स्वाद (अनुभव) आवे, तो सम्यक्त्व है।

उक्त कथनसे पण्डितजी स्पष्ट कर रहे हैं कि जिस शुद्ध चेतनाका अनुभव जीवको जब होता है, तब उस अनुभवका नाम ही सम्यग्दर्शन है, वह मोक्षमार्ग है और अविरत सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके साथ ज्ञान चारित्र्य भी है। भले ही वह संयमाचरण न हो, पर चारित्र्य गुण वहाँ है और वह मिथ्याचारित्र्य नहीं है, सम्यग्चारित्र्य है। आचार्य कुन्दकुन्दने संयमाचरणके न होनेपर भी सम्यग्दृष्टि (असंयत) के चारित्र्य हैं और वह सम्यग्-

चारित्र्य है, मिथ्याचारित्र्य नहीं, इसका स्पष्टीकरण उस चारित्र्यको “सम्यक्त्वाचरण” नाम देकर कर दिया है।

“षट्खण्डागम” की ध्वला टीका खण्ड १ भाग ९ पुस्तक ६ के २२ वें सूत्रकी टीकामें आचार्य वीरसेनने यह स्पष्ट किया है। वहाँ चारित्र्यका लक्षण पापनिवृत्ति क्रिया है और पापोंकी गणनामें मिथ्यात्वको सर्वप्रथम गिनाया है। इससे सम्यग्दृष्टिके तीनों हैं। पण्डित राजमलजीका कथन स्पष्ट आगमोत्तुमोदित है। उक्त ग्रन्थके शब्द इस प्रकार हैं :—

“पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्र्यम् ।” घादि कम्माणि पापं । नेसि किरिया मिच्छत्तासंजमकषायाः । तेसिमभावो चारित्र्यम् ।

अर्थात् पापक्रियाकी निवृत्ति चारित्र्य है। घाति कर्म पाप है। उनकी क्रिया मिथ्यात्व-असंजम-कषाय रूप है।

स्पष्ट है कि मिथ्यात्व पापके अभावमें सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य होता है। अतः सम्यग्दृष्टिके तीनों हैं, अतः वह मोक्षमार्ग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कर्णाको भोगकर २३वें कलशमें कहते हैं—कि हे भव्यजीव ! तू कुतूहलवश ही अथवा जैसे बने वैसे मर-पचकर भी एक बार शरीरका मोह छोड़, उसे अपना पड़ोसी तो मान, तुझे उससे पृथक् स्वयंका स्वरूप दर्शन होगा।

इस भावको पण्डित राजमलजीके शब्दोंमें पढ़िये।

“हे भव्यजीव ! अनादि कालसे जीवद्रव्य शरीरके साथ एक संस्कार रूप होकर चला आ रहा है। इसलिए उसे प्रतिबोधित किया जा रहा है। भो जीव ! जितनी शरीरादि पर्याय हैं वे सब पुद्गल की हैं तेरी नहीं। इसलिए इन पर्यायोंसे अपनेको भिन्न जान। भिन्न जान कर मूर्तमात्र (थोड़े काल) शरीरसे भिन्न अपने शुद्ध चेतन द्रव्यका प्रत्यक्ष रूपसे आस्वाद ले।.....कैसा भी करके किसी भी उपायसे मरकर भी शुद्ध जीव स्वरूपका अनुभव करो। चैतन्यका अनुभव से सहज साध्य है।”

जिस काल जीवको स्वानुभव होता है उसी काल मिथ्यात्व परिणमनका अभाव होता है, जिस काल मिथ्यात्व परिणामका अभाव होता है, उस काल अवश्य अनुमान शक्ति प्रकट होती है।

कुछ और भी यत्र-तत्र पण्डितजीने अपने विचार प्रकट किये हैं जो निम्नभांति हैं—

१. परद्रव्यकी अभिलाषा ही मिथ्यात्वरूप परिणाम है। (कलश १६७ टीका)

२. चारगतिरूपपर्याय तथा पंचेन्द्रियोंके भोग समस्त आकुलता रूप है सम्यग्दृष्टि ऐसा ही अनुभव करता है। साता-असाता दोनों की सामग्री सम्यग्दृष्टिको अनिष्ट रूप ही है। (कलश १५२ की टीका)

३. रागादिपरिणामोंका कर्त्ता मिथ्यादृष्टि जीव है; सम्यग्दृष्टि जीव नहीं। वह उनको निजपरिणाम नहीं मानता, अतः स्वामित्व नहीं। (कलश १७०)

४. जो द्रव्य जिसका कर्त्ता होता है, वही उसका भोक्ता होता है, अतः रागादिके कर्तृत्वके कारण मिथ्यादृष्टि ही उसके फलका भोक्ता होता है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अन्योन्य सम्बन्ध है।

५. इस संसारमें भ्रमण करते हुए किसी भव्य जीवका निकट संसार आ जाता है, तब जीव सम्यक्त्व का ग्रहण करता है (कलश १२)

इस प्रकार ग्रन्थके रहस्यका यत्र-तत्र पण्डितजीने उद्घाटन किया है। श्री पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्रीने अपनी भाषामें उसका स्पष्टीकरण किया है। टीका स्वाध्यायप्रेमियोंके लिए अवश्य पठनीय है।

